1971 Origins of Arihant and Arhant

Two articles *Arihant or Arhant Shabd mein kon pracheen* (In Sanmati Sandesh, 1971)

and *Arhant or Arihant (in Sanmati Sandesh), and a hand written draft*

अरिहंत या अरहंत शब्द में कौन प्राचीन है ?

श्री पं० हीरालाल जी सिद्धांतशास्त्री, ब्यावर

जैन संदेश के हाल ही के शोधाङ्क २६ में शोध करण के अंतर्गत उसके सम्पादक डा. ज्योतिप्रसाद जी ने अरिहंत या अरहंत की प्राचीनता पर अपने विचार प्रगट करते हुए ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोनों नामों में कौन प्राचीन है यह दिखाने का प्रयास किया है, पर वह प्रयास मात्र ही रहा है। पं. माणिकचंद्र जी, मेरे और श्री रतनलाल जी कटारिया के लेखों के प्रमाणों में यह बात तो सिद्ध ही हो जाती है कि अरिहंत, अरहंत और अरुहंत ये तीनों ही नाम प्राचीन काल से चले आ रहे हैं, अब रह जाती है यह कि इनमें सबसे प्राचीन नाम कौनसा है। डा. ज्योति प्रसाद जी ने ईसा के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हुए सम्राट खारवेल के हाथी गुफा वाले शिला लेख में उत्कीर्ण 'णमो अरहंताणं का उल्लेख कर यह संभावना व्यक्त की है कि सर्व प्रथम अरहंत नाम ही रहा है पीछे उच्चारण दोष से अथवा अन्य किसी कारण से, किन्हीं व्यक्तियों वर्गों या समूहों में उक्त पद के रूपांतर यथा अरिहंत, अरुहंत आदि प्रचलित होगये, और किन्हीं समर्थ आचार्यों ने उस टेव को छुड़ाने के प्रयत्न के स्थान में उक्त रूपान्तरों की ही सार्थकता का उद्घोष करके उन पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी हो ? इसके पश्चात् आज के कुछ विद्वानों का नामोल्लेख करके वे पुनः लिखते हैं कि हम तो बचपन से अरहंत का पाठ ही सुनते बोलते आये हैं और उसे जैन परम्परा के हार्द के अधिक अनुकूल एवं अनुरूप समझते हैं, आदि।

इस विषय पर प्रकाशित लेखों से पर्याप्त प्रकाश पड़ जाने के बाद भी कुछ ज्ञेय तत्व शेष रह जाता है, अतः यहाँ पर उसे ही प्रकट किया जाता है जिससे कि पाठक स्वयं ही निर्णय करेंगे कि कौन सा पद प्राचीन है और कौन सा अर्वाचीन है ? इस विषय पर कुछ लिखने के पूर्व मैं कर्म सिद्धांत की एक महत्वपूर्ण बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह यह कि क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने के पश्चात् क्षपक नवें दशवें गुण स्थान में सर्व प्रथम मोहकर्म क्षय करता है तत्पश्चात् बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन तीन शेष घाति कर्मों का क्षय करके अरहंत पद पाता है। इसका सीधा अर्थ यह है कि क्षपक पहले अरिहंत बनता है और पीछे अरहंत। क्योंकि अरिहंत पद का अर्थ है कर्म शत्रुओं का हनन करने वाला और अरहंत पद का अर्थ है देवेंद्र नरेंद्रादि से पूज्य, सेवनीय, योग्य, आप्त पुरुष। कर्म सिद्धांत की इस सनातनी स्वभाविक पद्धति के अनुसार कैवल्य या अनंत चतुष्टय रूप लक्ष्मी को प्राप्त करने के पूर्व केवली के अरिहंतपना सिद्ध होता है और पीछे अरहंतपना। पुनः वे आगे संसार में जन्म नहीं लेंगे, इस अपेक्षा अरुहंतपना भी उन्हें प्राप्त हो जाता है।

कर्म सिद्धांत की इस स्थिति से यह स्पष्ट सिद्ध है कि केवली पहले अरिहंत होते हैं तत्पश्चात् अरहंत और तदनंतर अरुहंत। यह भेद विवक्षा से कथत है। अभेद विवक्षा से तो तीनों ही नाम उन्हें एक साथ प्राप्त हो जाते हैं। अतः उनमें आगे पीछे होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस कथन से डा. साहब के द्वारा उठाया प्राचीन अर्वाचीन का प्रश्न स्वयं ही निःशेष हो जाता है। यही कारण है कि दि० सम्प्रदायों में सर्व प्रथम निबद्ध षट्खण्डागम के मंगलाचरण में दिये गए णमोकार मंत्र के प्रथम पद की व्याख्या करते हुए वीरसेनाचार्य ने अरिहंत को मूल पद मानकर 'अरिहननादरिहंता·····अरिमोहः तस्यारेर्हननादरिहंता' कहा, क्योंकि क्षपक सर्व प्रथम मोह कर्म का ही क्षय करता है। तत्पश्चात् 'रजोहननाद्वा अरिहंता, ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव रजांसि' कहा। तत्पश्चात् 'रहस्याभावाद्वाअरिहंता रहस्यमंतरायः' लिखकर उन्होंने यह प्रकट किया कि इन

चारों घाती कर्मों के हनन करने से वे अरिहंत कहे जाते हैं। तत्पश्चात् 'अतिशय पूजार्हत्वाद्वा अर्हतः कह कर उन्हें अरहंत कहा है। और आगे संसार में जन्म न लेने के कारण अरुहंत नाम तो स्वयं प्राप्त हो जाता है। क्योंकि सभी आचार्यों ने—

दग्धे बीजे यथाऽत्यंतं प्रादुर्भवतिनाङ्कुरः।
कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

के नियम को स्वीकार करके उनके अरुहंत नाम की सार्थकता को स्वतः ही स्वीकार कर लिया है।

षट्खण्डागम की रचना के सिवाय कुंदकुंदाचार्य ने अपने रचित ग्रंथों में अरहंत का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। उनमें से बोध पाहुड में गा० २८ से ३२ तक अरहंत का जो स्वरूप प्रकट किया है उससे भी उनके द्वारा अरिहंत और अरहंत दोनों नामों की स्वीकृति सिद्ध होती है। यथा-

जर वाहि जम्म मरणं चउगइगमणं च पुण्यपावंच।
हंतूण दोसकम्मे हुअ णाणमयं च अरिहंतो॥३०॥
तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयसहिया होंति तस्सट्ठ पडिहारा॥३२॥

अर्थात्—जरा व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गति गमन पुण्य और पाप रूप दोषकर्मों का हनन करके वे ज्ञानमय अरहंत बनते हैं। प्रथम गाथा के इस अर्थ के अनुसार वे पहले उनका अरिहंतपना प्रकट करते हैं। तत्पश्चात् दूसरी गाथा के द्वारा वे अरहंतपना प्रकट करते हुए कहते हैं कि तेरहवें गुण स्थान में सयोगी केवली जिन अरहंत हैं, जिनके कि ३४ अतिशय और ८ प्रातिहार्य होते हैं। कुंदाकुंदाचार्य की इन दोनों गाथाओं से पहले अरिहंत और पीछे अरहंत नाम की सार्थकता और क्रम स्वयं सिद्ध है।

यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है कि बोध पाहुड की उक्त ३२वीं गाथा में अरहंत को जो ३४ अतिशय और ८ प्रातिहार्य सहित बतलाया है, सो वे स्पष्ट रूप से तीर्थङ्कर अरहंत का उल्लेख कर रहे हैं। क्योंकि तीर्थङ्कर केवली के सिवाय सामान्य केवलियों के ३४ अतिशय और ८ प्रातिहार्य नहीं होते हैं। धवलाकार ने भी णमोकार मंत्र के प्रथम पद का अर्थ करते हुए अरहंत की व्याख्या में 'स्वर्गावतरण जन्माभिषेक परिनिष्क्रमण केवलज्ञानोत्पत्ति परिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुर मानवप्राप्तपूजाभ्योऽभ्यधिकत्वादतिशयानामर्हत्वादयोग्यत्वा दर्हन्त कहा है। जिसका भाव यह है कि गर्भादि पंचकल्याणकों के समय देवेन्द्र नरेन्द्रादि से महान अतिशयकारी पूजा पाने से—पूजा के योग्य होने से वे अरहंत हैं। इन दोनों अति प्राचीन उल्लेखों पर से यह अर्थ फलित होता है कि उक्त दोनों आचार्य पंचकल्याणकों को ३४ अतिशयों और ८ प्रातिहार्यों को प्राप्त करने वालों को अरहंत कह रहे हैं। यतः ये सभी बातें तीर्थंकरों के ही सम्भव है, अतः तीर्थंकर केवली ही अरहंत कहे जाने के योग्य हैं। सामान्य केवलियों का उक्त पंचकल्याणकादि पूजा और ३४ अतिशायादि की प्राप्ति नहीं होती है अतः उन्हें अरहंत कहना संगत नहीं है।

यद्यपि इस प्रकार अरहंत पद विशिष्टता का द्योतक होने पर भी अव्यापक और अरिहंत पद व्यापक अर्थ का बोधक सिद्ध होता है तथापि बाह्य अतिशयों की अपेक्षा अनंत चतुष्टय लक्ष्मी की प्राप्ति से सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली में कोई अंतरङ्ग भेद नहीं है, अतः सभी अरिहंत अरहंत पद की वाच्यता को प्राप्त होते हैं।

प्राकृत व्याकरण के नियम से भी अरहंत, अरिहंत और अरुहंत ये तीनों ही रूप सिद्ध होते हैं। यथा—

उच्चार्हतः—अर्हत शब्दे संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उत् अदिता च भवतः। यथा—अरुहा अरहा अरिहा, अरुहंता अरहंता, अरिहंता। (हेम० प्रा० व्या० ८।२।१११)तथा 'अर्हत्युवय'अर्हच्छब्देऽन्त्यहलः प्रागुत्वमदिता च भवंति अरुहा अरहा अरिहा अरुहंतो, अरहंतो, अरिहंतो (त्रिवि० प्रा० व्या० १।४।१०५)

उपसंहार—

अरहंत, अरिहंत और अरुहंत ये तीनों ही प्राचीन हैं, सार्थक हैं, अपने अपने विशिष्ट अ के द्योतक हैं और जैनों के भी सम्प्रदायों में स

(शेष पृष्ट ३४ पर)

(पृष्ठ ७ का शेष)

से प्रचलित हैं। किंतु तीसरे पद का इधर कुछ समय से प्रचार कम होगया। कारण कि लोगों का ध्यान उसके अर्थ की ओर नहीं गया। यदि यह पद पहले भी अप्रचलित रहा होता तो न तो दि० श्वे० प्राचीन ग्रंथों में उसका उल्लेख ही मिलता और न दि० श्वे० आचार्यों द्वारा रचित प्राकृत व्याकरणों में उसकी सिद्धि का विधान ही मिलता किंतु जैसा कि ऊपर बताया गया है दोनों सम्प्रदायों के प्राकृत व्याकरणों में अरहंत अरिहंत के साथ ही अरुहंत इन तीनों पदों के एक वचन और बहुवचन के रूप उपलब्ध हैं अतः समझदारों को तीनों ही रूपों का प्रयोग करना चाहिए। बल्कि मैं तो यह निवेदन करूँगा कि णमोकार मंत्र का जाप करते समय प्रथम बार में 'णमो अरिहंताणं' का द्वितीय बार में 'णमो अरहंताण' और तीसरी बार में 'णमो अरूहंताणं' का उच्चारण करना चाहिए, क्योंकि ये तीनों ही पद श्री जिनेंद्रदेव के तीन विशिष्ट अर्थों के प्रतिपादक हैं। ❀

अरहंत या अरिहंत

श्री पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री, साढूमल

वैदिक धर्म में जो महत्व महामंत्र गायत्री का है, वैसा ही महत्व जैनों में पञ्च नमस्कार महामंत्र का है। यह महामंत्र साम्प्रदायिक आग्रह से रहित है और इसमें किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय के विशिष्ट ईश्वर; अवतार आदि को नमस्कार न कर विशिष्ट गुणवान् आत्माओं को नमस्कार किया गया है। यह मंत्र धवला में मंगलाचरण रूप से प्रयुक्त हुआ है। इससे पूर्व के किसी अन्य ग्रन्थ में यह नहीं मिलता। इसके बाद के ग्रन्थों में इसके प्रथम पद के तीन रूप प्राप्त होते हैं—१. णमो अरिहंताणं २. णमो अरहन्ताणं ३. णमो अरुहन्ताणं। धवलाकार ने अपने मंगलाचरण में प्रथम रूप का ही प्रयोग किया है; अतः वह ही इसका शुद्ध रूप होना चाहिए किन्तु पं० नवीनचन्द्र शास्त्री आदि विद्वानों के अनुसार यह रूप गलत है और यह पाठ 'णमो अरहन्ताणं' होना चाहिये। उसके लिये उन्होंने जो युक्तियां दी हैं वे पाठक गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ में उनके लेख 'णमोकार मंत्र : पाठालोचन' में देखें। इस सम्बन्ध में सिद्धान्त शास्त्री जी की युक्तियां भी प्रबल और विचारणीय हैं। —सम्पादक

जैनों के सभी सम्प्रदायों में णमोकारमंत्र समानरूप से समादृत है और अनादि मूल-मंत्र माना जाता है। इसकी महिमा में आचार्यों ने बड़े-बड़े गीत गाये हैं, इसे सर्व मंगलों में प्रथम मंगल और सर्व पापों का नाशक माना है, एवं यहाँ तक कहा है कि यह द्वादशाङ्ग वाणी का सार है।

इस अनादि मूल मंत्र के प्रथम पद को लेकर विद्वज्जन विभिन्न धारणाएं रखते हैं, कोई 'णमो अरहंताण' को प्राचीन मानता है, तो कोई 'णमो अरिहंताण' को। कोई प्रथम पाठ को जैन संस्कृति के अनुरूप समझता है, तो दूसरे पाठ को जैन संस्कृति के प्रतिकूल। कोई प्रथम पाठ को व्याकरण शुद्ध मानता है, तो दूसरे पाठ को व्याकरण से अशुद्ध कहता है। कोई प्रथम पाठ को मंत्राराधन के योग्य कहता है, तो दूसरे पाठ को उसके अयोग्य बतलाता है। इस प्रकार विद्वज्जनों की अनेक विप्रतिपत्तियां सामने आयी हैं। यद्यपि षट्खण्डागम के प्रथम भाग के मूलपाठ, उसके अनुवाद और पादटिप्पणों में इस प्रथम पद विषयक सभी कुछ खुलासा किया गया है, पर ३२ वर्ष पूर्व प्रकाशित उक्त ग्रन्थ के स्वाध्याय न करने से, अथवा वह समाधान हृदय को अरुचिकर प्रतीत होने से इधर कुछ समय से दि० श्वे० समाज के अनेक विद्वानों ने दोनों पाठों के पक्ष-प्रतिपक्ष में समाचार-पत्रों द्वारा अपने-अपने अभिमत व्यक्त किये हैं। अतः उन सबका समाधान करने के लिए यह उपक्रम किया जाता है।

उपर्युक्त दोनों पाठों की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए दो आधार दिये जाते हैं—'अरहंत' पाठ के लिए खारवेल का शिलालेख और 'अरिहंत' पाठ के लिए षट्खण्डागम का मंगलाचरण। इन दोनों पदों में अधिक प्राचीन पद का निर्णय करने के पूर्व उसके अर्थ का विचार कर लेना आवश्यक है। पहले 'अरिहंत' पद के अर्थ का विचार किया जाता है—

(१) दि० सम्प्रदाय के मूलाचार में जो कि वस्तुतः कुन्दकुन्दाचार्य-रचित है, षडावश्यकाधिकार की गाथा इस प्रकार है—

रागद्दोस कसाए य इंदियाणि पंच य।
परीसहे उवसग्गे णासयंतो णमो रिहा॥

इस गाथा में स्पष्ट रूप से राग, द्वेष; कषाय; इन्द्रिय विषय, परीषह और उपसर्गों के नाशक अरिहंत को 'अरिहा' कहकर नमस्कार किया है। अरिहा का ही बहुवचन अरिहंत है।

(२) श्वे० सम्प्रदाय में आवश्यक सूत्र अति प्राचीन एवं मान्य ग्रन्थ है, उसे आधार बनाकर रचे गये विशेषावश्यक भाष्य में मूलाचार की गाथा से मिलती हुई उक्त अर्थ की पोषक दो गाथाएं इस प्रकार पाई जाती हैं—

इंदिय विषय कसाए परीसहे वेयणा उवस्सग्गे ।
एए अरिणो हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥३५८२॥
अट्ठविहं पिय कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं ।
तं कम्ममरि हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥३५८३॥

इन दोनों ही गाथाओं में स्पष्ट रूप से कर्मरूप अरि के हन्ता या विनाश करने वाले को 'अरिहंत' कहा गया है।

(३) षट्खण्डागम सूत्र के मंगल पद 'अरिहंत' का अर्थ करते हुए धवला टीकाकार वीरसेनाचार्य लिखते हैं—

'णमो अरिहंताणं' अरिहननादरिहन्ता। नरक तिर्यक्कु-मानुष्यप्रेतावासप्रवाशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः । .....तस्यारेर्हननादरिहन्ता। रजोहननाद्वा अरिहन्ता। ज्ञानदर्शनावरणानि रजांसीव बहिरंगाशेषत्रिकालगोचरार्थ-व्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषय-बोधानुभवप्रतिबन्धकत्वा-द्रजांसि। मोहोऽपि रजः.....। तेषां हननादरिहन्ता। रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता। रहस्यमन्तरायः।.....तस्यं हननादरिहन्ता।

अर्थात्—नरकतिर्यंचादि दुर्गतियों के दुःखों के देने से मोहकर्म शत्रु है, तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म रज के समान बाह्य और अन्तरंग समस्त त्रिकालविषयक अनन्त अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय रूप वस्तुओं को विषय करने वाले बोध और अनुभव के प्रतिबन्धक होने से रज कहलाते हैं। मोहकर्म भी रज है। ऐसे रज रूप कर्मों के हनन करने से वे जिनेन्द्र अरिहंत कहलाते हैं। रहस्य नाम अन्तराय कर्म का है, उक्त तीनों घातिकर्मों के साथ अन्तराय कर्म का भी जो विघात करते हैं, वे अरिहन्त कहे जाते हैं।

'अरिहन्त' पद की उक्त व्याख्या के पश्चात् आ० वीरसेन ने अपने अर्थ की पोषक तीन प्राचीन गाथाओं को दिया है। वे इस प्रकार हैं—

णिद्दड्ढमोहतरुणो विदियण्णाणसायरुत्तिण्णा ।
णिहयणियविग्घवग्गा बहुवाहविणिग्गया अयला ॥१॥
बलियमयणप्पयावा तिकालविसएहिं तीहिं णयणेहिं ।
दिट्ठसयलट्ठसारा सुबद्धतिउरा मुणिव्वइणो ॥२॥
तिरयणतिसूलधारिय मोहंधासुर कबंधविदहरा ।
सिद्धसयलप्परूवा अरिहंता वुण्णयकयंता ॥३॥

इन तीनों ही गाथाओं के काले टाइप के छपे पदों पर दृष्टि डालने से पाठक सहज ही जान सकते हैं कि गाथाकार मोहरूप वृक्ष के जलाने वाले, विघ्न समूह के विनाशक, मदन के दलक, त्रिपुरासुर (जन्म जरा मरण रूप) के विध्वंसक, दुर्नयों के कृतान्त (यमराज) और रत्नत्रय रूप त्रिशूल के मोहरूप अन्धकासुर के शिरच्छेदक व्यक्ति को ही 'अरिहन्त' कह रहे हैं। सारांश यह है कि जो घातिया चारों कर्मों का नाश करते है, वे ही अरिहन्त कहलाते हैं।

यह तो हुआ 'अरिहंत' पद का अर्थ। अब 'अरहंत' पद का अर्थ किया जाता है। मूलाचार के षडावश्यकाधिकार में कहा है—

अरहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंतिय अरहंता तेण उच्चदे ॥

इसी गाथाका पल्लवित रूप श्वे० विशेषावश्यक में इस प्रकार दिया है—

अरिहंति वंदणणमंसणाइं अरिहंति पूयसक्कारं।
सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति
॥३५८४॥
देवासुरमणुएसुं अरिहा पूजा सुरुत्तमा जम्हा ।
अरिणो हंता रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति
॥३५८५॥

अर्थात्—जो वन्दना, नमस्कार और पूजा-सत्कार के योग्य, देवों के द्वारा जिन्होंने उत्तम पूजा को प्राप्त किया है, वे अरहंत कहलाते हैं। तथा कर्म रज या अरि

को हनन करने से अरिहंत कहलाते हैं।

(२) कुन्दकुन्दाचार्य भी अरिहंत और अरहंत दोनों का स्वरूप अपने बोधपाहुड में इस प्रकार कहते हैं—

जरवाहि जम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च।
हंतूण दोसकम्मे हुअ णाणमयं च अरिहंतो ॥३०॥
तेरहये गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो।
चउतीस अइसयसहिया होंति तस्सट्ठ पडिहारा
॥३२॥

अर्थात्—जरा, व्याधि, जन्म-मरण, चतुर्गतिगमन पुण्य और पाप-रूप दोष कर्मों को हनन करके ज्ञानमयी अरिहंत बनते हैं। इस प्रकार प्रथम गाथा के द्वारा वे पहले उनका अरिहंतपना प्रकट करते हैं। तत्पश्चात् दूसरी गाथा द्वारा उन्हीं के अरहंतपना प्रकट करते हुए कहते हैं कि तेरहवें गुणस्थान में सयोगिकेवली जिन अरहंत हैं, जिनके कि चौतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य होते हैं।

(३) कुन्दकुन्दाचार्य के समान ही वीरसेनाचार्य पहले 'अरिहंत' की व्याख्या करके पुनः 'अरहंत' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

अतिशयपूजार्हत्वाद्वाऽर्हन्तः। स्वर्गावतरण जन्माभिषेक परिनिष्क्रमण - केवलज्ञानोत्पत्ति - परिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुर-मानवप्राप्त पूजाभ्योऽभ्यधिकत्वादतिशयानामर्हत्वाद्वायोग्यत्वादर्हन्तः।

(षट्खं. पु. १ पृ० ४४)

अर्थात्—जो स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रम, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणकों के समय देवकृत पूजा को प्राप्त करते हैं और देव, असुर और मनुष्यों के द्वारा प्राप्त पूजातिशयों के योग्य हैं, अतः वे 'अरहंत' या अर्हन्त कहलाते हैं।

श्वे० आगमनन्दीसूत्र में अरहंत की व्याख्या इस प्रकार दी है—

सुरासुरस्स णं सव्वस्सेव जगस्स अट्ठमहापाडिहारिए पूयाए सणोवलक्खियं अणण्ण सरिसमचिंतमाहप्पं केवलाहिट्ठियं पवरुत्तमत्तं.....इत्यादि। (देखो अभिधान राजेन्द्र, अरहंत शब्द)

अर्थात्—जो देव, मनुष्य और असुर सहित सर्व ही जगत् के द्वारा आठ महाप्रातिहार्य रूप पूजा से संयुक्त हैं और अनन्य सदृश्य अचिन्त्य माहात्म्य को प्राप्त हैं, केवल ज्ञान से अधिष्ठित हैं, प्रवर उत्तमता को प्राप्त हैं, वे अरहंत कहे जाते हैं।

उपर्युक्त दोनों ही सम्प्रदायों के प्राचीन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि आत्म-साधक व्यक्ति पहले घाती कर्मों का नाश कर अरिहंत बनते हैं। पुनः वे ही घाती कर्मों के क्षय से अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी की प्राप्ति से एवं त्रिलोकीजनों के द्वारा पूजातिशयको पाने से अर्हन्त या अरहन्त कहे जाते हैं।

दि. श्वे. सम्प्रदायो के परवर्ती सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों के मंगलाचरणों में, अथवा ग्रन्थों के भीतर यथासंभव यथास्थान दोनों ही पदों का प्रयोग कर उनको मान्यता प्रदान की है।

उपरि उल्लिखित बोधपाहुड की गाथा ३२ में तो चौंतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य वाले तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगिजिन को ही 'अरहंत' कहा है, सो आचार्य का यह कथन तीर्थंकर केवली की अपेक्षा जानना चाहिए। धवलाकार ने तो गर्भादि पंचकल्याणकों में देवेन्द्रादि के द्वारा पूजातिशय को प्राप्त करने वालों को 'अर्हन्त' कहा है। इन प्रमाणों के आधार पर तो 'अर्हन्त' या 'अरहन्त' शब्द-सामान्य केवलियों के प्रयुक्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि सामान्य केवलियों के लिए न पंचकल्याणक होते हैं और न चौंतीस अतिशय और आठ महाप्रातिहार्य ही। ऐसी दशा में 'अरहंत' पद अव्यापक सिद्ध होता है और अरिहंत पद व्यापक, क्योंकि वह सामान्य केवली और तीर्थंकर केवली दोनों में समान रूप से रहता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक साधक पहले 'अरिहन्त' बनता है। पीछे केवलज्ञान को पाने से जगत्पूज्य होता है तब 'अरहंत' होता है।

इस उपर्युक्त कथन का सबसे बड़ा प्रमाण कर्म सिद्धान्त है। जिन्होंने उसका अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने को उद्यत व्यक्ति सर्वप्रथम

र्शन मोह की तीन प्रकृति और चारित्र मोह की अनन्ता-बन्धी चार कषाय इन सात का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्वी बनता है। पश्चात् आठ मध्यम कषायों का नवें गुणस्थान में पहले क्षय करता है। तदन्तर नव नो कषाय और संज्वलन क्रोध मान और माया कषाय और बादर लोभ का क्षय कर दसवें गुणस्थान में पहुँचता है और वहां पर सूक्ष्म लोभ का क्षय कर बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान में पहुँचता है, जिसका सीधा-सादा अर्थ है कि पहले क्षपक मोह कर्म को क्षय करके वीतराग संज्ञा पाता है। पुनः बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में दर्शनावरण कर्म की निद्रा और प्रचला प्रकृति का क्षय करता है और अन्तिम समय में ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार और अन्तराय की पांच इन चौदह प्रकृतियों का एक साथ क्षय करके सयोगी जिन होता है, अर्थात् तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है।*

घाति कर्मों के क्षय होने के उक्त क्रम के अनुसार जीव पहले अरिहंत बनता है, पीछे अरहंत अर्थात् अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी की प्राप्ति होने पर वह जगत्पूज्य बन जाता है। यही कर्मक्षय का सनातन अनादि निधन मार्ग है, इसमें कुछ आगे-पीछे होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता कि यतः खारवेल का शिलालेख पुराना है, अतः 'अरहंत' पद प्राचीन है और षट्खण्डागम पीछे रचा गया है, अतः उसके मंगलाचरण में दिया 'अरिहंत' नाम अर्वाचीन है।

अरिहंत और अरहंत के अतिरिक्त अरुहन्त यह एक तीसरा पाठ भी मिलता है। प्राकृत की सभी भक्तियां कुन्दकुन्दाचार्य-रचित मानी जाती हैं। उन्होंने जहां बोधापाहुड एवं अन्य ग्रन्थों में अरिहंत और अरहंत नाम का उल्लेख किया है, वैसे ही पंच परमेष्ठि भक्ति के अन्त में 'अरुहा' पद का भी प्रयोग किया है यथा—

अरुहा सिद्धाइरिया उवझाया साहु पंच परमेट्ठी।
एयाण-णमोक्कारो भवे भवे मम सुहं दिन्तु॥

इसके संस्कृत टीकाकार आ० प्रभाचंद ने भी टीका में 'अरुहा' पाठ को स्वीकार किया है। (देखो क्रियाकलाप पृ० २६६-२६७) 'अरुहा' का अर्थ होता है नहीं आने वाले। अर्थात् जिनका कर्म बीज अत्यन्त जल जाने के कारण अब आगे भवरूप अंकुर नहीं उगेगा। जैसा कि अकलंकदेव ने राजवार्तिक के अन्त में उक्तं च कह कर यह श्लोक उद्धृत किया है—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

उपरि उल्लिखित तीनों पदों की सिद्धि का विधान प्राकृत व्याकरणों में भी मिला है। यथा—

(१) उच्चार्हतः अर्हत्-शब्दे संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व उत् आदितौ च भवतः। यथा-अरुहो अरहो अरिहो, अरुहंतो अरहंतो अरिहंतो (हेम.प्रा.व्या. ८।२।१११)

(२) अर्हत्युच्चः अर्हच्छब्देऽन्त्यहलः प्रागुत्वमदितौ च भवन्ति-अरुहो अरहो अरिहो, अरुहंतो अरहंतो अरिहंतो (त्रिवि. प्रा. व्या. १।४।१०५)

प्राकृत व्याकरण के अनुसार तीनों ही रूप शुद्ध एवं प्रामाणिक हैं। यदि प्राचीनकाल से ये तीनों रूप प्रचलित न होते, तो तीनों ही पदों के एक वचन और बहुवचन के रूप दोनों व्याकरणकार नहीं देते। पर दिये हैं इसलिए उनकी प्राचीनता, प्रामाणिकता और शुद्धता स्वयंसिद्ध है।

घातिया कर्मों के क्षय के पश्चात् अघातिया कर्मों का क्षय भी सुनिश्चित है, अतः अरहन्त फिर आगे जन्म ग्रहण नहीं करते हैं और इसी कारण वे अरुहन्त पद के द्वारा कहे जाने के सर्वथा योग्य हैं। इस प्रकार सयोगी-जिन पहले अरिहंत होते हैं, पुनः अरहन्त और अन्त में अरुहन्त बनकर सिद्ध पद को पाकर सदा के लिए अजर, अमर और अपुनर्भवी हो जाते हैं।

जो लोग 'अरिहंत' पद अरि के हनन अर्थ को जैन संस्कृति के प्रतिकूल कहकर उसकी अनुपादेयता प्रकट करते हैं, उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि जगत् एवं जनता की विकृति के मिटाने या दूर करने पर ही तो संस्कृति प्रकट होती है। आत्मा की जो अनादिकालीन विकृति उसके साथ संलग्न थी, उस राग-द्वेषमूलक कर्मविकृति के दूर करने पर ही तो उसकी वास्तविक संस्कृति प्रकट होती है। फिर कर्म ऐसे चेतन पदार्थ नहीं हैं कि उनके हनन से उन्हें कोई कष्ट होता हो। अपने ही विकारी भावों को

एवं उनके निमित्त से संचित कर्म पुद्गलों को दूर करने का नाम क्षय या विनाश है, क्योंकि सत् वस्तु का आत्यन्तिक क्षय हो ही नही सकता। 'कर्म भूभृतां भेत्तारं' का अर्थ करते हुए विद्यानन्दिस्वामी कहते हैं—

तत्स्कन्धराशयः प्रोक्ता भूभृतोऽत्र समाधितः।
जीवाद्विश्लेषणं भेदः सतो नात्यन्त संक्षयः ॥११५
(आप्त परीक्षा)

अपनी इसी कारिका की व्याख्या में वे स्वयं ही लिखते हैं —

'तत एवं कर्मभूभृतां भेत्ता भगवान प्रोक्तो न पुनर्विनाशयिता इति निरवद्यमिदं विशेषणम्।'

अर्थात् समाधि के बल से कर्म स्कन्धों के जीव से विश्लेषण या पृथक्करण का नाम ही भेदन है, क्योंकि सद् वस्तु का अत्यन्त संक्षय नहीं होता और इसी अपेक्षा से भगवान कर्म भूभृतों के भेत्ता कहे जाते हैं, न कि विनाशयिता। यही भाव अरिहनन करने वाले 'अरिहंत' पद में निहित समझना चाहिए।

इस प्रकार जो जैनों की अहिंसा संस्कृति के प्रतिकूल 'अरिहन्त' पद को या उसके अर्थ को समझते हैं, वह ठीक नहीं है।

कुछ लोग 'अरिहन्त' पद को मंत्राराधन के अयोग्य कहते हैं और बतलाते हैं कि सिद्ध चक्र पाठ आदि में 'अर्हन्' पद को ही बीजाक्षर रूप मंत्र पद माना है, 'अरिहन्त' नाम को नहीं। सो यह भी उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि सिद्धचक्रादि के पाठ में जो 'अर्हं' बीजाक्षर पद है; वह 'अरहंत' का वाचक नहीं है, किन्तु आद्योपान्त समस्त वर्णमाला का बोधक या सूचक है। यथा

अकारादि-हकारान्त रेफमध्यं सबिन्दुकम्।
तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्वविद्॥
(ज्ञानार्णव, ३८; २२)

वर्णमाला को सिद्धमातृका पद कहते हैं, क्योंकि इसके प्रताप से सम्यग्ज्ञान रूप सरस्वती सिद्ध होती है और मुक्ति प्राप्त होती है। जैसा कि कहा है—

'सिद्धमातृकया सिद्धामथ लेभे सरस्वतीम्।
(क्षत्रचूड़ामणि अ० २)

द्वादशाङ्ग वाणी के मूल आधार एवं उसके अर्थ के प्रतिपादक ये अकारादि वर्ण ही हैं और मंत्र शास्त्र में एक-एक वर्ण की आराधना का महात्म्य बतलाया गया है। यतः अर्हं' बीज पद अकार से लेकर हकार पर्यन्त समस्त वर्णों का सूचक या संग्राहक है, अतः उसे मंत्राधीश और मंत्रराज जैसे नामों से पुकारा जाता है।

श्वे० आ० हेमचन्द्र ने भी अपने योगशास्त्र में 'अर्हं' मंत्र का उल्लेख आठवें प्रकाश के आठवें श्लोक में किया है। अतः 'अर्हं' को केवल 'अर्हन्' का वाचक मानकर अन्य अरिहन्त आदि को अध्यात्मसाधना या मंत्राराधना में अनुपयोगी बतलाना उचित नहीं है। इस प्रकार 'अर्हं' पद को केवल 'अरहंत' का वाचक मानना भूल से भरा ही है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में, तथा कर्म-सिद्धान्तानुसार कर्म-क्षय के क्रम को देखते हुए सभी आत्म-साधक पहले 'अरिहंत' बनते हैं, पुनः कैवल्य प्राप्ति पर वे ही 'अरहंत' कहलाते हैं और भविष्य में जन्म नहीं धारण करने के कारण वे ही 'अरुहंत' कहे जाते हैं। वस्तु स्थिति के इस प्रकाश में किसी नाम को प्राचीन मानना और किसी को अर्वाचीन या भूल से भरा मानना उचित नहीं है। प्राकृत व्याकरणों में एक साथ ही जैसे तीनों मिलते हैं, उसी प्रकार हमें प्रतिदिन इन तीनों की इस प्रकार से आराधना या जाप करना चाहिए—

'णमो अरिहंताणा, णमो अरहंताणां, णमो अरुहंताणां'

यतः ये तीनों ही पद विशिष्ट अर्थ के बोधक हैं, अतः तीनों ही प्रतिदिन आराधनीय हैं।

आशा है; पाठकगण, एवं विद्वज्जन अपना पूर्वाग्रह छोड़ कर एवं यथार्थ वस्तुस्थिति समझ कर तीनों पदों को समान भाव से स्वीकार करेंगे। ★

---

* विशेष के लिए देखिये षट्खण्डागम पु० १ पृ० २१५ से २२३। कसायपाहुडसुत्त क्षपणाधिकार एवं लब्धिसार क्षपणासार, गो० कर्मकाण्ड आदि।

'णमो अरिहंताणं' या 'णमो अरहंताणं'

(हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, कारंजा)

अर्द्धमागधी आगमों के व्याख्याकारों तथा टीका ग्रंथों के प्रकाशित अंश ही मैंने देखे हैं। उनमें मैंने कुछ लेखकों की सांप्रदायिक मनोवृत्ति के कारण यह लिखा हुआ पढ़ा है कि "प्राकृत में यह विचारणा है कि 'अरिहंताणं' यह ठीक है, या 'अरहंताणं' बोलना आदरणीय है!" तदनंतर 'अरिहंतादि' शब्दों के अर्थ करके लिखा है कि 'मोहनीय को शत्रु मानकर पुनः उसकी हिंसा कर देना' यह शब्द उसी प्रकार उपलब्धेय है जैसे कि कोई कहे कि मैं 'मांस को खाता हूं' किंतु एकेन्द्रियजीवों का भक्षण करता हूं' आदि।

उसने आगे अपने लिखा है कि 'तत्र जिनशब्दः तीर्थंकर सुगतकपिलादीनां उपलक्षणपरोऽपी' इसे लिखने वाले सूक्ष्म उल्लेखों का प्रयोग भी उन्होंने किया है, जबकि ऐसे ग्रंथों की हत्या की जानी है। क्या हिंसा लिखने से अतिरिक्त कोई और उपाय, आत्मधर्म, उपेक्षा-उल्लेखादि योग्य शब्द नहीं हैं? क्यों हत्या करने के ही जघन्य भाव लेते हैं?

कुछ ने आगे अपने लिखा है कि अरिहंत शब्द बनाने में ही ठीक विधान नहीं होता है, जो सांप्रदायिकी बात कही है। जैसे, संस्कृत के 'अर्हत्' की अतिप्रियता करते हुए लिखते लिखा है कि 'अतः 'अरहंताणं' यद्युच्चारणं कदापि न साधीयः, 'अरिहंताणं' तथा'। यहां पर वे अपने 'अर्ह' धातु को उपदेश में लिखते हैं कि 'अर्हति, कथंचित् आलोच्य वर्तमानं' 'अरिहं' ये सर्व विधान नहीं हैं, आदि।

पंडितजी के लिये लिखने का यह है कि 'अरिहंताणं' बोलना चाहिये अरहंताणं नहीं। यह पंडितजी को यह लेना चाहिए कि चाहे यह पंडित ही लिखा हुआ प्रकाशित हुआ है और उसके लेखक भी वीरसेवामंदिर जैसी संस्था के संचालक हैं और उसके लेखक भी वीरसेवामंदिर जैसी संस्था के संचालक हैं, परंतु प्रकाश डाले यह पंडित ने प्रकाश पड़ा की चाहिये 'णमो अरिहंताणं' यह कोई प्रकाश देकर 'अरिहननाद्वारेण' ये लिखते हैं और मोहनीय को प्रधान शत्रु बताकर 'शेषघातिनोऽपि कर्मणः' लिखते हैं। आगे अपने उक्त अर्थ की पुष्टि करते हुए 'रजोहननाद्वा अरिहंता' कहा है और उसके प्रमाण रूप में किसी ग्रंथ का लिखा है। पुनः 'रहस्याभावाद्वा अरिहंता' लिखने से 'रहस्य' शब्द का अर्थ न समझते करते हुए लिखते हैं कि 'रहस्य देवकृतो विशेषतो विशिष्ट ज्ञानिनां भावो पुष्टि वीरवित्तं यस्मिन् कर्मक्षयादौ तत्कर्मक्षये ह्यरहंता'। (विशेष के लिए देखें जैन साहित्य संशोधक पृ० ४२-४४) तत्पश्चात् अपने उक्त अर्थ के समर्थन में तीन प्राचीन गाथाएं उद्धृत की हैं, उनमें की तीसरी गाथा इस प्रकार है —

तिरयण-तिसूल-दारिय मोहंधासुर-कबंधविद्दहरा।
सिद्धिसरलच्छिकंता अरिहंता दुक्खय-कयंता॥

(छह पाहुड़ टीका पृ० ४८)

अर्थात् जिन्होंने रत्नत्रयरूपी निधान को प्राप्त करके मोहरूपी आन्तरिक शत्रु को क्षय कर दिया है, जिन्होंने दुर्गतियों को उत्पन्न करने वाले अर्थात् कुलन- कारिणी जिन जो कुलकर (तीर्थंकर) हैं, ऐसे उत्तम आत्मा वाले सिद्ध करने वाले अर्थात् उत्तम पुरुषों का अरिहंत होते हैं।

विद्वान् पाठक स्वयं विचारें कि चलला टीका को आज से १२०० वर्ष हुए हैं, वे उससे अभीष्ट अर्थ की पुष्टि के उसले भी पूर्व पाठ से आलेकनी उस उसका लेखन कुछ गाथा का उद्धरण दे रहे हैं। इतना ही नहीं, उस अर्धमागधी ग्रंथ लाइनों का भी लिखित प्राचीन सुमने होता था, जिसकी लखी देने वाली चेष्टा लिखत देखे पुस्त अंची पताकाएं मूर्ति आज भी दे रही हैं। इस मूर्ति के चिन्ह के लक्ष में मैंने चन्द्रप्रभदेव और पुष्पदंत शिवकिलोक को आज से १५ वर्ष पूर्व जिन पक्षों में प्रकाशित कराया था। यदि श्वेताम्बर बंधु जो कहेंगे, तो उसकी कापी में देख जाने पर आपसे कह भेज दूंगा।

इस चलला टीका ने भी पूर्वलिखित मूलाचार के 'जदाचरणमधिकार' के अंतर में ही यही निम्न गाथा अरिहंत की लक्षित कही है—

रागदोसकसाए य इंदियाणि य पंच य।
परिसहे उवसग्गे णासयंतो णमो रिहंत ॥ ७-३ ॥

इस गाथा में स्पष्ट उपले राग, द्वेष, कषाय, पंचेन्द्रिय, परीषह और उपसर्ग के नाशक को 'अरिहा' कहा है।

तथा इससे आगे की गाथा में 'इच्छेदा अरिहंति य अरिहंतो तेण उच्चदे' कहकर मूलाचारकार ने 'अरिहंत' नाम की सार्थकता का उद्घोष किया है। यहां मैं यह भी बता देना चाहता हूं कि मूलाचार दि० सम्प्रदाय में मूलसंघी कुंदकुंद चार्य प्रतिष्ठित हैं। वट्टकेराचार्य संस्कृत 'वर्तकेलाचार्य' का ही प्राकृत रूप है इस बात को देखकर अनेक प्रमाणों से अनेकान्त वर्ष १२ के प्रथम अंक में सिद्ध किया है। अतः दिगम्बर भारत में उपलब्ध मूलाचार की प्राचीन ताडपत्रीय प्रति में स्पष्ट रूप से 'कुंदकुंदाचार्य-विरचित मूलाचार समाप्त' इस प्रकार के उल्लेख पाये जाते हैं। इस प्रकार से 'अरिहंत' शब्द को दो हजार वर्ष प्राचीन काल में भी सर्व प्रचलित था और उस शब्द पर श्वेताम्बर जैनों जैसी आपत्ति आज तक भी किसी आचार्य या विद्वान् ने नहीं दिखाई।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कल्प एवं प्राचीन ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य में भी मूलाचार के 'अरिहंत' अर्थ की पोषक और अधिक स्पष्ट रूप से लक्षित और प्रथम मूलाचार के शब्द लक्षण रचने वाली गाथाएं पाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं—

अरहंतेहिं दिट्ठा कालं अरिहंता तेण वुच्चंति" ३५८२
तं कालं जेहिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति" ३५८३
(विशेषावश्यक भाष्य)

कहना न्याय अनुचित न होगा कि श्वेताम्बर-प्रतिपादित अर्थ ही प्रकृत उक्त शब्दों में निरवद्यार्थक भाष्यकार ने घटित किया है और वही ले तात्पर्यतः उक्त दोनों ग्रन्थों के अनुसार ही धवलाकार टीकाकार 'अरिहंत' का अर्थ निकाला है।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जितना प्राचीन 'अर्हत' पद है, उतना ही प्राचीन 'अरिहंत' पद भी है। तथा जिस प्रकार 'अर्ह पूजायाम्' धातु से 'अर्हत्' या अर्हति शब्द ~~सिद्धहैम शब्दानुशासन~~ की निरुक्ति पूर्वक पंचकल्याणक आदिमें देवेन्द्रादिकों द्वारा पूजार्हता होने से वे अर्हन् या अर्हत् कहे जाते हैं, उसी प्रकार सब क्षेत्र कालों और पात्रों के ज्ञातव्य होने से वे 'अरिहंत' भी कहे जाते चले आते हैं।

यह नई 'अरिहंत' शब्द की किसी धातु से निरुक्ति की बात, तो श्रद्धेय पंडित जी को ज्ञात होना चाहिए कि संस्कृत से प्राकृत भाषा नहीं प्रकट हुई है, जिससे कि उसका उद्गम ठीक बताया जाय। वस्तुतः प्रकृत भाषाकी ~~आदिभौम~~ प्रचलित रूपों से संस्कार या परिष्कार ~~किया जाकर~~ की गई भाषा का नाम संस्कृत है, अर्थात् प्राकृत से संस्कृत भाषा उद्गत हुआ है अतः संस्कार करने वैयाकरणी लोगों ने जिनको अभीष्ट समझा, संस्कृत रूप दे लिया और जिनको अभीष्ट नहीं समझा, उनका संस्कृत रूप नहीं दिया। पर इतने मात्र से 'णमो अरिहंताणं' के मूल अर्थ को समझने और स्वीकार करने में कोई फर्क नहीं पड़ता।

पंडित, अच्छी और चलती देशी इस शब्द के उद्देश्य को बतलाते हुए प्रज्ञापनासूत्रटीकाकार लिखते हैं—

अरहंती चायरकमंदी, सिद्धिलाभा चलदंसी।
पंचमी नाम लाभस्य तस्मात्तित्थयरा चोत्त ॥ ८४ ॥

इस प्रमाण से यही सिद्धि होता है कि पहले 'अरहंती' 'सिद्धिसिद्धी' का विधान है, पीछे 'तुहे पवित्ती' का। वस्तुतः दोनों बातें एक दूसरे की पूरक एवं परस्परसंबद्ध हैं, अतः 'अरिहंत' और 'अरहंत' ये दोनों पद लक्षित शुद्ध हैं, प्राचीन काल से चले आते हैं, और ग्राह्य हैं।

ये दोनों ही पाठ प्राचीन काल से दि० श्वे० दोनों सम्प्रदायोंमें समान रूपसे मान्य रहे हैं और श्वेताम्बर टीका या विशेषचूर्णि भाष्य आदिके प्रकाशमें पूर्वकालीन ग्रन्थोंमें उनका प्रमाणरूपसे बराबर उल्लेख किया गया दृष्टिगोचर होता है। श्रुतसागर ने अपने चारित्र पाहुड़की टीकामें कहा है—

'अरिहननं-रजोहननं-रहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम्।
स्तुवे ...'।

पं० दौलतरामजी ने भी अपनी क्रियाकोषकी इन पंक्तियों

सकल क्षेम क्षायक सुखदानि निजानन्दसुखलीन।
लो जिनपूजन्तो नित, अरि-रज-रहस्य-विहीन॥

इसके अतिरिक्त 'णमो अरहंताणं' पाठ भी प्राचीन लेख लिखित प्रतियोंमें मिलता है। नित्य पूजनकी जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं, उन में पंचपरमेष्ठी की स्तुति जो कि प्रकृत में है, और नित्यनियमपाठमें-संग्रह प्रतीत होती है, उस में यह पाठ मिलता है। यथा—

'अरहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
एयाण णमोक्कारो भवे भवे मम सुहं दिंतु॥

इस पाठका संस्कृत 'नमोऽर्हत्भ्यः' होता है। संस्कृत में 'रुह' धातु अंकुरोत्पादनके अर्थमें व्यवहृत है। तदनुसार यह अर्थ होता है कि अब जिनका कर्मरूप बीज सर्वथा नष्ट हो गया है, उनका भवांकुर अब नहीं होगा। अर्थात् आगे जन्म-मरणादि से मुक्ति हो गये अरहंतों को नमस्कार हो। इसके समर्थनमें यह श्लोक पर्याप्त है—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

विशेष के लिए देखिए 'चारित्रपाहुड' पृ० १५ के प० फूलचन्द जैके द्वारा दी गई टिप्पणी।

इस गुटकेमें आदिमें कौनसा पाठ लिखा जाय, तो यह पाठकोंकी इच्छा पर निर्भर है, इसलिए हमारा कोई खास आग्रह नहीं है।

आशा है—पाठकों को समुचित समाधान होगा।

—०—